।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथम अध्याय गीता की प्रवेशिका है, जिसमें आरम्भ में पथिक को प्रतीत होनेवाली उलझनों का चित्रण है। लड़नेवाले सम्पूर्ण कौरव और पाण्डव थे; किन्तु संशय का पात्र मात्र अर्जुन है। अनुराग ही अर्जुन है। इष्ट के अनुरूप राग ही पथिक को क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संघर्ष के लिये प्रेरित करता है। अनुराग आरम्भिक स्तर है। पूज्य महाराज जी कहते थे - ''सद्गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ग्लानि होने लगे, अश्रुपात होता हो, कण्ठ अवरुद्ध होता हो, तो समझना कि यहीं से भजन आरम्भ हो गया।'' अनुराग में यह सब कुछ आ जाता है। उसमें धर्म, नियम, सत्संग, भाव सभी विद्यमान होंगे।

अनुराग के प्रथम चरण में पारिवारिक मोह बाधक बनता है। पहले मनुष्य चाहता है कि वह उस परमसत्य को प्राप्त कर ले; किन्तु आगे बढ़ने पर वह देखता है कि इन मधुर सम्बन्धों का उच्छेद करना होगा, तब हताश हो जाता है। वह पहले से जो कुछ धर्म-कर्म मानकर करता था, उतने में ही सन्तोष करने लगता है। अपने मोह की पुष्टि के लिये वह प्रचलित रूढ़ियों का प्रमाण भी प्रस्तुत करता है - जैसा अर्जुन ने किया कि कुलधर्म सनातन है। युद्ध से सनातन धर्म का लोप होगा, कुलक्षय होगा, स्वैराचार फैलेगा। यह अर्जुन का उत्तर नहीं था, बल्कि सद्गुरु के सान्निध्य से पूर्व अपनायी गई एक कुरीति मात्र थी।

इन्हीं कुरीतियों में फँसकर मनुष्य पृथक्-पृथक् धर्म, अनेक संप्रदाय, छोटे-बड़े गुट और असंख्य जातियों की रचना कर लेता है। कोई नाक दबाता है, कोई कान फाड़ता है। किसी के छूने से धर्म नष्ट होता है, तो कहीं

रोटी-पानी से धर्म नष्ट होता है। तो क्या अछूत या छूनेवालों का दोष है? कदापि नहीं। दोष हमारे भ्रमदाताओं का है। धर्म के नाम पर हम कुरीति के शिकार हैं इसलिये दोष हमारा है।

महात्मा बुद्ध के समय में केश-कम्बल एक सम्प्रदाय था, जिसमें केश को बढ़ाकर कम्बल की तरह प्रयोग करने को पूर्णता का मानदण्ड माना जाता था। कोई गोव्रतिक (गाय की भाँति रहनेवाला) था, तो कोई कुक्कुरव्रतिक (कुत्ते की तरह खाने-पीने, रहनेवाला) था। ब्रह्मविद्या का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्प्रदाय और कुरीतियाँ पहले भी थीं, आज भी हैं। ठीक इसी प्रकार कृष्णकाल में भी सम्प्रदाय थे, कुरीतियाँ थीं। उनमें से एकाध कुरीति का शिकार अर्जुन भी था। उसने चार तर्क प्रस्तुत किये - १. ऐसे युद्ध से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा, २. वर्णसंकर पैदा होगा, ३. पिंडोदक क्रिया लुप्त होगी, और ४. हम लोग कुलक्षय द्वारा महान पाप करने को उद्यत हुए हैं। इस पर योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा -

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

करुणा से व्याप्त, अश्रुपूर्ण व्याकुल नेत्रोंवाले उस अर्जुन के प्रति 'मधुसूदन'- मद का विनाश करनेवाले भगवान ने यह वचन कहा -

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

अर्जुन! इस विषम स्थल में तुझे यह अज्ञान कहाँ से हो गया? विषम स्थल अर्थात् जिसकी समता का सृष्टि में कोई स्थल है ही नहीं, पारलौकिक है लक्ष्य जिसका, ऐसे निर्विवाद स्थल पर तुझे अज्ञान कहाँ से हुआ? अज्ञान क्यों, अर्जुन तो सनातन धर्म की रक्षा के लिये कटिबद्ध है। क्या सनातन धर्म की रक्षा के लिये प्राण-पण से तत्पर होना अज्ञान है? श्रीकृष्ण कहते हैं- हाँ, यह अज्ञान है। न तो सम्भावित पुरुषों द्वारा इसका आचरण किया

गया है, न स्वर्ग ही देनेवाला है और न यह कीर्ति को ही करनेवाला है। सन्मार्ग पर जो दृढ़तापूर्वक आरूढ़ है, उसे आर्य कहते हैं। गीता आर्यसंहिता है। परिवार के लिये मरना-मिटना यदि अज्ञान न होता, तो महापुरुष उस पर अवश्य चले होते। यदि कुलधर्म ही सत्य होता, तो स्वर्ग और कल्याण की निःश्रेणी अवश्य बनता। यह कीर्तिदायक भी नहीं है। मीरा भजन करने लगी तो '**लोग कहें मीरा भई बावरी, सास कहे कुलनाशी रे।**' जिस परिवार, कुल और मर्यादा के लिये मीरा की सास बिलख रही थी, आज उस कुलवन्ती सास को कोई नहीं जानता, मीरा को विश्व जानता है। ठीक इसी प्रकार परिवार के लिये जो परेशान हैं, उनकी भी कीर्ति कब तक रहेगी? जिसमें कीर्ति नहीं, कल्याण नहीं, श्रेष्ठ पुरुषों ने भूलकर भी जिसका आचरण नहीं किया, तो सिद्ध है कि वह अज्ञान है। अतः-

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।३।।

अर्जुन! नपुंसकता को मत प्राप्त हो। क्या अर्जुन नपुंसक था? क्या आप पुरुष हैं? नपुंसक वह है, जो पौरुष से हीन हो। सब अपनी समझ से पुरुषार्थ ही तो करते हैं। किसान रात-दिन खून-पसीना एक करके खेत में पुरुषार्थ ही तो करता है। कोई व्यापार में पुरुषार्थ समझता है, तो कोई पद का दुरुपयोग करके पुरुषार्थी बनता है। जीवन भर पुरुषार्थ करने पर भी खाली हाथ जाना पड़ता है। स्पष्ट है कि यह पुरुषार्थ नहीं है। शुद्ध पुरुषार्थ है 'आत्मदर्शन'। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से कहा -

नपुंसकः पुमान् ज्ञेयो यो न वेत्ति हृदि स्थितम्।
पुरुषं स्वप्रकाशं तस्मानन्दात्मानमव्ययम्।। (आत्म-पुराण)

वह पुरुष होते हुए भी नपुंसक है, जो हृदयस्थ आत्मा को नहीं पहचानता। वह आत्मा ही पुरुषस्वरूप, स्वयंप्रकाश, उत्तम, आनन्दयुक्त और अव्यक्त है। उसे पाने का प्रयास ही पौरुष है। अर्जुन! तू नपुंसकता को न प्राप्त हो, यह तेरे योग्य नहीं है। हे परंतप! हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के

लिए खड़ा हो। आसक्ति का त्याग करो। यह हृदय की दुर्बलता मात्र है। इस पर अर्जुन ने तीसरा प्रश्न प्रस्तुत किया -

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अहंकार का शमन करनेवाले मधुसूदन! मैं रणभूमि में पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण से किस प्रकार बाणों से युद्ध करूँगा; क्योंकि अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं।

द्वैत ही द्रोण है। प्रभु अलग हैं, हम अलग हैं - द्वैत का यह भान ही प्राप्ति की प्रेरणा का आरंभिक स्रोत है। यही द्रोणाचार्य का गुरुत्व है। भ्रम ही भीष्म है। जब तक भ्रम है तभी तक बच्चे, परिवार, रिश्तेदार सभी अपने लगते हैं। अपना लगने में भ्रम ही माध्यम है। आत्मा इन्हीं को पूज्य मानकर इनके साथ रहता है कि ये पिता हैं, दादा हैं, कुलगुरु हैं इत्यादि। साधन के पूर्तिकाल में **'गुरु न चेला, पुरुष अकेला।'**

न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः।
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्।। (आत्मषट्क, ५)

जब चित्त उस परम आनन्द में विलीन हो जाता है, तब न गुरु ज्ञानदाता और न शिष्य ग्रहणकर्त्ता ही रह जाता है। यही परम की स्थिति है। गुरु का गुरुत्व प्राप्त कर लेने पर गुरुत्व एक-जैसा हो जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं, 'अर्जुन! तू मुझमें निवास करेगा।' जैसे श्रीकृष्ण वैसा ही अर्जुन, और ठीक वैसा ही प्राप्तिवाला महापुरुष हो जाता है। ऐसी अवस्था में गुरु का भी विलय हो जाता है, गुरुत्व हृदय में प्रवाहित हो जाता है। अर्जुन गुरु-पद की ढाल बनाकर इस संघर्ष में प्रवृत्त होने से कतराना चाहता है। वह कहता है-

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न भी श्रेयस्कर समझता हूँ। यहाँ भिक्षा का अर्थ उदर-पोषण के लिये भीख माँगना नहीं बल्कि सत्पुरुषों की टूटी-फूटी सेवा द्वारा उनसे कल्याण की याचना ही भिक्षा है। **'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्।' (तैत्तिरीय. उप. ३/२)** अन्न एकमात्र परमात्मा है, जिसे प्राप्त करके आत्मा सदा के लिये तृप्त हो जाता है, कभी अतृप्त नहीं रहता। हम महापुरुषों की सेवा और याचना द्वारा शनैः-शनैः ब्रह्म-पीयूष प्राप्त करें; किन्तु यह परिवार न छूटे, यही अर्जुन के भिक्षान्न की कामना है। संसार में अधिकांश लोग ऐसा ही करते हैं। वे चाहते हैं कि पारिवारिक स्नेह-सम्बन्ध न मारना पड़े और मुक्ति भी शनैः-शनैः मिल जाय। किन्तु चलनेवाले पथिक के लिये, जिसके संस्कार इनसे ऊपर हैं, जिसमें संघर्ष की क्षमता है, स्वभाव में क्षत्रियत्व प्रवाहित है, उसके लिये इस भिक्षान्न का विधान नहीं है। स्वयं न करके याचना करना भिक्षान्न है। गौतम बुद्ध ने भी मज्झिम निकाय के धम्मदायाद सुत्त (१/१/३) में इस भिक्षान्न को आमिष-दायाद कहकर हेय माना है, जब कि शरीरयापन से सभी भिक्षु थे।

इन गुरुजनों को मारकर मिलेगा क्या? इस लोक में रुधिर से सने अर्थ और काम के भोग ही तो भोगने को मिलेंगे। अर्जुन कदाचित् सोचता था कि भजन से भौतिक सुखों की मात्रा में अभिवृद्धि होगी। इतना संघर्ष झेलने के बाद भी इस शरीर के पोषक अर्थ और काम के भोग ही तो मिलेंगे। वह पुनः तर्क देता है-

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

यह भी निश्चित नहीं है कि वह भोग मिलेगा ही। यह भी हम नहीं जानते कि हमारे लिए क्या करना श्रेयस्कर है; क्योंकि जो कुछ हमने कहा, वह अज्ञान प्रमाणित हो गया। यह भी ज्ञात नहीं है कि हम जीतेंगे अथवा वे ही

जीतेंगे। जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं। अज्ञानरूपी धृतराष्ट्र से उत्पन्न मोह इत्यादि स्वजन समुदाय मिट ही जायेंगे, तब हम जी कर ही क्या करेंगे? अर्जुन पुनः सोचता है कि जो कुछ हमने कहा, कदाचित् यह भी अज्ञान हो, अतः प्रार्थना करता है-

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

कायरता के दोष से नष्ट स्वभाववाला, धर्म के विषय में सर्वथा मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ। जो कुछ निश्चित परमकल्याणकारी हो, वह साधन मेरे लिये कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में हूँ, मुझे साधिये। केवल शिक्षा न दीजिये, बल्कि जहाँ लड़खड़ाऊँ वहाँ सँभालिये। लाद दे लदाय दे और लदानेवाला साथ चले - कदाचित् गट्ठर गिर पड़ा, तब कौन लदवायेगा।'' ऐसा ही समर्पण अर्जुन का है।

यहाँ अर्जुन ने पूर्ण समर्पण कर दिया। अभी तक वह श्रीकृष्ण को अपने स्तर का ही समझता था, अनेक विद्याओं में अपने को कुछ आगे ही मानता था। यहाँ उसने अपनी बागडोर श्रीकृष्ण को वस्तुतः सौंप दी। सद्गुरु पूर्तिपर्यन्त हृदय में रहकर साधक के साथ चलते हैं। यदि वे साथ न रहें, तो साधक पार न हो। युवा कन्या के परिवारवाले जिस प्रकार शादी-विवाह तक उसको संयम की शिक्षा देते हुए सँभाल ले जाते हैं, ठीक उसी प्रकार सद्गुरु अपने शिष्य की अन्तरात्मा से रथी होकर उसे प्रकृति की घाटियों से निकालकर पार कर देते हैं। अर्जुन निवेदन करता है कि भगवन्! एक बात और है-

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ।।८।।

भूमि पर निष्कण्टक धन-धान्यसम्पन्न राज्य को और देवताओं के स्वामीपन इन्द्र-पद को पाकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता, जो मेरी इन्द्रियों को सुखानेवाले शोक को दूर कर सके। जब शोक बना ही है, तो यह सब लेकर ही मैं क्या करूँगा? यदि इतना ही मिलना है, तो क्षमा करें। अर्जुन ने सोचा, अब इसके आगे बतावेंगे भी क्या?

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

संजय बोला – हे राजन्! मोहनिशाजयी अर्जुन ने हृदय के सर्वज्ञ श्रीकृष्ण से यह कहकर कि 'गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा' चुप हो गया। अभी तक अर्जुन की दृष्टि पौराणिक है, जिसमें कर्मकाण्डों के साथ भोगों की उपलब्धि का विधान है, जिसमें स्वर्ग ही सबकुछ माना जाता है- जिस पर श्रीकृष्ण प्रकाश डालेंगे कि यह विचारधारा भी गलत है।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

उसके उपरान्त हे राजन्! अन्तर्यामी योगेश्वर श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में उस शोकयुक्त अर्जुन को हँसते हुए-से यह वचन कहा-

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

अर्जुन! तू न शोक करने योग्यों के लिये शोक करता है और पण्डितों के-से वचन कहता है; किन्तु बुद्धिसम्पन्न पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये तथा जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी शोक नहीं करते; क्योंकि वे भी मर जायेंगे। तू पण्डितों-जैसी बातें भर करता है, वस्तुतः ज्ञाता है नहीं; क्योंकि-

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

न तो ऐसा ही है कि मैं अर्थात् सद्गुरु किसी काल में नहीं था अथवा तू अनुरागी अधिकारी अथवा **'जनाधिपाः'**- राजा लोग अर्थात् राजसी वृत्ति में पाया जानेवाला अहं नहीं था और न ऐसा ही है कि आगे हम सब नहीं रहेंगे। सद्गुरु सदैव रहता है, अनुरागी सदैव रहते हैं। यहाँ योगेश्वर ने योग की अनादिता पर प्रकाश डालते हुए भविष्य में भी उसकी विद्यमानता पर बल दिया। मरनेवालों के लिये शोक न करने के लिये कारण बताते हुए उन्होंने कहा-

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

जैसे जीवात्मा की इस देह में कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अन्य-अन्य शरीर की प्राप्ति में धीर पुरुष मोहित नहीं होता है। कभी आप बालक थे, शनैः-शनैः युवा हुए, तब आप मर तो नहीं गये? पुनः वृद्ध हुए। पुरुष एक ही है, उसी प्रकार लेशमात्र भी दरार नये देह की प्राप्ति पर नहीं पड़ती। कलेवर का यह परिवर्तन तब तक चलेगा, जब तक परिवर्तन से परे की वस्तु नहीं मिल जाती।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

हे कुन्तीपुत्र! सुख-दुःख, सर्दी और गर्मी को देनेवाले इन्द्रियों और विषयों के संयोग तो अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं। अतः भरतवंशी अर्जुन! तू इनका त्याग कर। अर्जुन इन्द्रिय और विषय के संयोगजन्य सुख का स्मरण करके ही विकल था। कुलधर्म, कुलगुरुओं की पूज्यता इत्यादि इन्द्रियों के लगाव के अन्तर्गत हैं। ये क्षणिक हैं, झूठे हैं, नाशवान् हैं। विषयों का संयोग न सदैव मिलेगा और न सदैव इन्द्रियों में क्षमता ही रहेगी। अतः अर्जुन! तू इनका त्याग कर, सहन कर। क्यों? क्या हिमालय की लड़ाई थी, जो अर्जुन सर्दी सहन करता? अथवा क्या यह रेगिस्तान की लड़ाई है, जहाँ अर्जुन गर्मी सहन करे? 'कुरुक्षेत्र' जैसा कि लोग बाहर बताते हैं, समशीतोष्ण स्थली है। कुल अठारह दिन तो लड़ाई हुई, इतने में कहाँ जाड़ा-गर्मी बीत गया?

वस्तुतः सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख, मान-अपमान को सहन करना एक योगी पर निर्भर करता है। यह हृदय-देश की लड़ाई का चित्रण है, यह बाहर युद्ध के लिये गीता नहीं कहती। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संघर्ष है, जिसमें आसुरी सम्पद् का सर्वथा शमन कर परमात्मा में स्थिति दिलाकर दैवी सम्पद् भी शान्त हो जाती है। जब विकार हैं ही नहीं, तो सजातीय प्रवृत्तियाँ किस पर आक्रमण करें। अतः पूर्णत्व के साथ वे भी शान्त हो जाती हैं, इससे पहले नहीं। गीता अन्तर्देश की लड़ाई का चित्रण है। इस त्याग से मिलेगा क्या? इससे लाभ क्या है? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुख को समान समझनेवाले जिस धीर पुरुष को इन्द्रियों और विषयों के संयोग व्यथित नहीं कर पाते, वह मृत्यु से परे अमृत-तत्त्व की प्राप्ति के योग्य हो जाता है। यहाँ श्रीकृष्ण ने एक उपलब्धि 'अमृत' की चर्चा की। अर्जुन सोचता था कि युद्ध के परिणाम में स्वर्ग मिलेगा या पृथ्वी; किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि न स्वर्ग मिलेगा और न पृथ्वी, बल्कि अमृत मिलेगा। अमृत क्या है?-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

अर्जुन! असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है, वह है ही नहीं, उसे रोका नहीं जा सकता और सत्य का तीनों काल में अभाव नहीं है, उसे मिटाया नहीं जा सकता। अर्जुन ने पूछा - क्या भगवान होने के नाते आप कहते हैं? श्रीकृष्ण ने बताया - मैं तो कहता ही हूँ, इन दोनों का यह अन्तर हमारे साथ-साथ तत्त्वदर्शियों द्वारा भी देखा गया है। श्रीकृष्ण ने वही सत्य दोहराया, जो तत्त्वदर्शियों ने कभी देख लिया था। श्रीकृष्ण भी एक तत्त्वदर्शी महापुरुष थे। परमतत्त्व परमात्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करके उसमें स्थितिवाले तत्त्वदर्शी कहलाते हैं। सत् और असत् हैं क्या? इस पर कहते हैं-

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

नाशरहित तो वह है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इस **'अव्ययस्य'**- अविनाशी का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है; किन्तु इस 'अविनाशी', 'अमृत' का नाम क्या है? वह है कौन?-

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अविनाशी, अप्रमेय, नित्यस्वरूप आत्मा के ये सभी शरीर नाशवान् कहे गये हैं, इसलिये भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर। आत्मा ही अमृत है। आत्मा ही अविनाशी है, जिसका तीनों काल में नाश नहीं होता। आत्मा ही सत् है। शरीर नाशवान् है यही असत् है, जिसका तीनों काल में अस्तित्व नहीं है।

'शरीर नाशवान् है, इसलिये तू युद्ध कर' - इस आदेश से यह स्पष्ट नहीं होता कि अर्जुन केवल कौरवों को मारे। पाण्डव-पक्ष में भी तो शरीर ही खड़े थे, क्या पाण्डव के शरीर अविनाशी थे? यदि शरीर नाशवान् है, तो श्रीकृष्ण किसकी रक्षा में खड़े थे? क्या अर्जुन कोई शरीरधारी था? शरीर जो असत् है, जिसका अस्तित्व नहीं है, जिसे रोका नहीं जा सकता, क्या श्रीकृष्ण उस शरीर की रक्षा में खड़े हैं? यदि ऐसा है, तो वे भी अविवेकी और मूढ़ हैं; क्योंकि आगे श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि जो केवल शरीर के लिये ही पचता है, श्रम करता है (३/१३) वह अविवेकी और मूढ़बुद्धि है। वह पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है। अन्ततः अर्जुन कौन था?

वस्तुतः अनुराग ही अर्जुन है। अनुरागी के लिये इष्ट सदैव रथी बनकर साथ में रहते हैं। सखा की भाँति उसका मार्ग-दर्शन करते हैं। आप शरीर नहीं हैं। शरीर तो आवरण है, रहने का मकान है। उसमें रहनेवाला अनुरागपूरित आत्मा है। भौतिक युद्ध, मारने-काटने से शरीरों का अन्त नहीं होता। यह शरीर छूटेगा, तो आत्मा दूसरा शरीर धारण कर लेगा। इसी सन्दर्भ में श्रीकृष्ण कह चुके हैं कि जिस प्रकार बाल्यकाल से युवा या वृद्धावस्था आती है, उसी प्रकार देहान्तर की प्राप्ति होती है। शरीर काटेंगे तो जीवात्मा नया वस्त्र बदल लेगा।

शरीर संस्कारों के आश्रित है और संस्कार मन पर आधारित है। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'** **(पंचदशी, ५/६०)** मन का सर्वथा निरोध होना, अचल-स्थिर ठहरना और अन्तिम संस्कार का विलय एक ही क्रिया है। संस्कारों की सतह का टूट जाना ही शरीरों का अन्त है। इसे तोड़ने के लिये आपको आराधना करनी होगी, जिसे श्रीकृष्ण ने कर्म या निष्काम कर्मयोग की संज्ञा दी है। श्रीकृष्ण ने स्थान-स्थान पर अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा दी; किन्तु एक भी श्लोक ऐसा नहीं है जो भौतिक युद्ध या मार-काट का समर्थन करता हो। यह युद्ध सजातीय-विजातीय प्रवृत्तियों का है, अन्तर्देश में है।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

जो इस आत्मा को मारनेवाला मानता है तथा जो इस आत्मा को मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही आत्मा को नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा न तो मारता है और न मारा ही जाता है। पुनः इसी पर बल देते हैं-

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

यह आत्मा किसी काल में न तो जन्मता है और न मरता है; क्योंकि यह वस्त्र ही तो बदलता है। न यह आत्मा होकर अन्य कुछ होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता। आत्मा ही सत्य है, आत्मा ही पुरातन है, आत्मा ही शाश्वत और सनातन है। आप कौन हैं? सनातन धर्म के अनुयायी। सनातन कौन है? आत्मा। आप आत्मा के अनुयायी हैं। आत्मा, परमात्मा और ब्रह्म एक दूसरे के पर्याय हैं। आप कौन हैं? शाश्वत धर्म के उपासक। शाश्वत कौन है? आत्मा। अर्थात् हम-आप आत्मा के उपासक हैं। यदि आप आत्मिक पथ को नहीं जानते तो आपके पास शाश्वत-सनातन नाम की कोई

वस्तु नहीं है। उसके लिये आप आहें भरते हैं तो प्रत्याशी अवश्य हैं; किन्तु सनातनधर्मी नहीं हैं। सनातन धर्म के नाम पर किसी कुरीति के शिकार हैं।

देश-विदेश में, मानवमात्र में आत्मा एक ही जैसा है। इसलिये विश्व में कहीं भी कोई आत्मा की स्थिति दिलानेवाली क्रिया जानता है और उस पर चलने के लिये प्रयत्नशील है, तो वह सनातनधर्मी है, चाहे वह अपने को ईसाई, मुसलमान, यहूदी या कुछ भी क्यों न कह ले।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।।२१।।

पार्थिव शरीर को रथ बनाकर ब्रह्मरूपी लक्ष्य पर अचूक निशाना लगानेवाला पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यक्त जानता है, वह पुरुष कैसे किसी को मरवाता है और कैसे किसी को मारता है? अविनाशी का विनाश असम्भव है। अजन्मा जन्म नहीं लेता। अतः शरीर के लिये शोक नहीं करना चाहिए। इसी को उदाहरण से स्पष्ट करते हैं-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

जैसे मनुष्य **'जीर्णानि वासांसि'**- जीर्ण-शीर्ण पुराने वस्त्रों को त्यागकर नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, ठीक वैसे ही यह जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को धारण करता है। जीर्ण होने पर ही नया शरीर धारण करना है तो शिशु क्यों मर जाते हैं? यह वस्त्र तो और विकसित होना चाहिये। वस्तुतः यह शरीर संस्कारों पर आधारित है। जब संस्कार जीर्ण होते हैं तो शरीर छूट जाता है। यदि संस्कार दो दिन का है तो दूसरे दिन ही शरीर जीर्ण हो गया। इसके बाद मनुष्य एक श्वास भी अधिक नहीं जीता। संस्कार ही शरीर है। आत्मा संस्कारों के अनुसार नया शरीर धारण कर लेता है- **'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। यथा इहैव, तथैव प्रेत्य भवति। कृतं**

लोकं पुरुषोऽभिजायते।' (छान्दोग्योपनिषद्, ३/१४) अर्थात् यह पुरुष निश्चय ही संकल्पमय है। इस लोक में पुरुष जैसा निश्चयवाला होता है, वैसा ही यहाँ से मरकर जाने पर होता है। अपने संकल्प से बनाये हुए शरीरों में पुरुष उत्पन्न होता है। इस प्रकार मृत्यु शरीर का परिवर्तन मात्र है। आत्मा नहीं मरता। पुनः इसकी अजरता-अमरता पर बल देते हैं-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

अर्जुन! इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काटते। अग्नि इसे जला नहीं सकती। जल इसे गीला नहीं कर सकता और न वायु इसे सुखा ही सकता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।

यह आत्मा अच्छेद्य है - इसे छेदा नहीं जा सकता। यह अदाह्य है - इसे जलाया नहीं जा सकता। यह अक्लेद्य है - इसे गीला नहीं किया जा सकता। आकाश इसे अपने में समाहित नहीं कर सकता। यह आत्मा निःसन्देह अशोष्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है।

अर्जुन ने कहा था कि कुलधर्म सनातन है। ऐसा युद्ध करने से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा। किन्तु श्रीकृष्ण ने इसे अज्ञान माना और आत्मा को ही सनातन बताया। आप कौन हैं? सनातन धर्म के अनुयायी। सनातन कौन है? आत्मा। यदि आप आत्मपर्यन्त दूरी तय करने वाली विधि-विशेष से अवगत नहीं हैं तो आप सनातन धर्म नहीं जानते। इसका कुपरिणाम साम्प्रदायिकता में फँसे धर्मभीरु लोगों को भोगना पड़ रहा है। मध्यकालीन भारत में बाहर से आनेवाले मुसलमान मात्र बारह हजार थे, आज अट्ठाइस करोड़ हैं। बारह हजार से बढ़कर लाखों हो जाते, अधिक से अधिक करोड़ के लगभग हो जाते, और कितने हो जाते? यह अट्ठाइस करोड़ से भी आगे बढ़ रहे हैं। सब हिन्दू ही तो हैं। आपके सगे भाई हैं, जो छूने और खाने से नष्ट हो गये। वे नष्ट नहीं हुए बल्कि उनका सनातन, अपरिवर्तनशील धर्म नष्ट हो गया।

जब मैटर (Matter) क्षेत्र में पैदा होनेवाली कोई वस्तु इस सनातन का स्पर्श नहीं कर सकती, तो छूने-खाने से सनातन धर्म नष्ट कैसे हो सकता है? यह धर्म नहीं, एक कुरीति-परिस्थिति थी, जिससे भारत में साम्प्रदायिक वैमनस्य बढ़ा, देश का विभाजन हुआ और राष्ट्रीय एकता की आज भी समस्या बनी हुई है।

इन कुरीतियों के कथानक इतिहास में भरे पड़े हैं। हमीरपुर जिले में पचास-साठ परिवार कुलीन क्षत्रिय थे। आज वे सब मुसलमान हैं। न उनपर तोप का हमला हुआ, न तलवार का। हुआ क्या? अर्द्धरात्रि में दो-एक मौलवी उस गाँव के एकमात्र कुएँ के समीप छिप गये कि कर्मकाण्डी ब्राह्मण सबसे पहले यहाँ स्नान करने आयेगा। जहाँ वे आये तो उन्हें पकड़ लिया, उनका मुँह बन्द कर दिया। उनके सामने उन्होंने कुएँ से पानी निकाला, मुँह लगाकर पिया और बचा हुआ पानी कुएँ में डाल दिया, रोटी का एक टुकड़ा भी डाल दिया। पण्डितजी देखते ही रह गये, विवश थे। तत्पश्चात् पण्डितजी को भी साथ लेकर वे चले गए। अपने घर में उन्हें बन्द कर दिया।

दूसरे दिन उन्होंने हाथ जोड़कर पण्डितजी से भोजन के लिये निवेदन किया तो वे बिगड़ पड़े - "अरे, तुम यवन हो मैं ब्राह्मण, भला कैसे खा सकता हूँ?" उन्होंने कहा - "महाराज! हमें आप-जैसे विचारवान् लोगों की बड़ी आवश्यकता है। क्षमा करें।" पण्डितजी को छोड़ दिया गया।

पण्डितजी अपने गाँव आये। देखा, लोग कुएँ का प्रयोग पूर्ववत् कर रहे थे। वे अनशन करने लगे। लोगों ने कारण पूछा, तो बोले - यवन इस कुएँ की जगत पर चढ़ गये थे। मेरे सामने उन्होंने इस कुएँ को जूठा किया और इसमें रोटी का टुकड़ा भी डाल दिया। गाँव के लोग स्तब्ध रह गये, पूछा - "अब क्या होगा?" पण्डितजी ने बताया - "अब क्या? धर्म तो नष्ट हो गया।"

उस समय लोग शिक्षित नहीं थे। स्त्रियों और शूद्रों से पढ़ने का अधिकार न जाने कब से छीन लिया गया था। वैश्य धनोपार्जन ही अपना धर्म मान

बैठे थे। क्षत्रिय चारणों के प्रशस्ति गायन में खोये थे कि अन्नदाता की तलवार चमकी तो बिजली कौंधने लगी, दिल्ली का तख्त डगमगाने लगा। सम्मान वैसे ही प्राप्त है, तो पढ़ें क्यों? धर्म से उन्हें क्या लेना-देना? धर्म केवल ब्राह्मणों की वस्तु बनकर रह गया था। वे ही धर्मसूत्रों के रचयिता, वे ही उसके व्याख्याकार और वही उसके झूठ-सच के निर्णायक थे। जबकि प्राचीनकाल में स्त्रियों, शूद्रों, वैश्यों, क्षत्रियों और ब्राह्मणों को, सबको वेद पढ़ने का अधिकार था। प्रत्येक वर्ग के ऋषियों ने वैदिक मन्त्रों की रचना की है, शास्त्रार्थनिर्णय में भाग लिया है। प्राचीन राजाओं ने धर्म के नाम पर आडम्बर फैलानेवालों को दण्ड दिया, धर्मपरायणों का समादर किया था।

किन्तु मध्यकालीन भारत में सनातन धर्म की यथार्थ जानकारी न रखने से उपर्युक्त गाँव के निवासी भेड़ की तरह एक कोने में खड़े होते गये कि धर्म नष्ट हो गया। कई लोगों ने इस अप्रिय शब्द को सुनकर आत्महत्या कर ली; किन्तु सब कहाँ तक प्राणान्त करते। अटूट श्रद्धा के पश्चात् भी विवश होकर अन्य हल खोजना पड़ा। आज भी वे बाँस गाड़कर, मूसल रखकर हिन्दुओं की तरह विवाह करते हैं, बाद में एक मौलवी निकाह पढ़ाकर चला जाता है। सब-के-सब शुद्ध हिन्दू हैं, सब-के-सब मुसलमान बन गये।

हुआ क्या था? पानी पिया था, अनजाने में मुसलमानों का छुआ खा लिया था इसलिये धर्म नष्ट हो गया। धर्म तो हो गया छुईमुई। यह (लाजवन्ती) एक पौधा होता है। आप छू दें, तो उसकी पत्तियाँ संकुचित हो जाती हैं और हाथ हटाते ही पुनः विकसित हो जाती हैं। यह पौधा हाथ हटाने पर विकसित हो जाता है; किन्तु धर्म तो ऐसा मुरझाया कि कभी विकसित नहीं होगा। वे मर गये, सदा के लिये उनके राम, कृष्ण और परमात्मा मर गये। जो शाश्वत थे, वे मर गये। वास्तव में वह शाश्वत के नाम पर कोई कुरीति थी, जिसे लोग धर्म मान बैठे थे।

धर्म की शरण हम क्यों जाते हैं? क्योंकि हम मरणधर्मा (मरने-जीनेवाले) हैं और धर्म कोई ठोस चीज है, जिसकी शरण जाकर हम भी

अमर हो जायँ। हम तो मारने से मरेंगे और यह धर्म केवल छूने और खाने से मर जायेगा, तो हमारी क्या रक्षा करेगा? धर्म तो आपकी रक्षा करता है, आपसे शक्तिशाली है। आप तलवार से मरेंगे और धर्म? वह छूने से नष्ट हो गया। कैसा है आपका धर्म? कुरीतियाँ नष्ट होती हैं, न कि सनातन।

सनातन तो ऐसी ठोस वस्तु है जिसे शस्त्र नहीं काटते, अग्नि जला नहीं सकती, जल इसे गीला नहीं कर सकता। खान-पान तो दूर, प्रकृति में उत्पन्न कोई वस्तु उसका स्पर्श भी नहीं कर पाती, तो वह सनातन नष्ट कैसे हो गया?

ऐसी ही कतिपय कुरीतियाँ अर्जुन-काल में भी थीं। उनका शिकार अर्जुन भी था। उसने विलाप करते हुए गिड़गिड़ाकर कहा कि कुलधर्म सनातन है। युद्ध से सनातन धर्म नष्ट हो जायेगा। कुलधर्म नष्ट होने से हम अनन्तकाल तक नरक में चले जायेंगे। किन्तु श्रीकृष्ण ने कहा-'' तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हो गया?'' सिद्ध है कि वह कोई कुरीति थी, तभी तो श्रीकृष्ण ने उसका निराकरण किया और बताया कि आत्मा ही सनातन है। यदि आप आत्मिक पथ नहीं जानते, तो सनातन धर्म में आपका अभी तक प्रवेश नहीं हुआ है।

जब यह सनातन-शाश्वत आत्मा सबके अन्दर व्याप्त है, तो खोजा किसे जाय? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का विषय नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा इसे समझा नहीं जा सकता। जब तक इन्द्रियों और विषयों का संयोग है, तब तक आत्मा तो है; किन्तु उसे समझा नहीं जा सकता। वह अचिन्त्य है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है, तब तक वह शाश्वत है तो; किन्तु हमारे दर्शन, उपभोग और प्रवेश के लिये नहीं है। अतः चित्त का निरोध करें।

पीछे श्रीकृष्ण बता आये हैं कि असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है और सत् का तीनों काल में अभाव नहीं है। वह सत् है आत्मा। आत्मा ही

अपरिवर्तनशील, शाश्वत, सनातन और अव्यक्त है। तत्त्वदर्शियों ने आत्मा को इन विशेष गुणधर्मों से युक्त देखा। न दस भाषाओं के ज्ञाता ने देखा, न किसी समृद्धिशाली ने देखा, बल्कि तत्त्वदर्शियों ने देखा। श्रीकृष्ण ने आगे बताया कि तत्त्व है परमात्मा। मन के निरोधकाल में साधक उसका दर्शन और उसमें प्रवेश पाता है। प्राप्तिकाल में भगवान मिलते हैं और दूसरे ही क्षण वह अपनी आत्मा को ईश्वरीय गुणधर्मों से विभूषित देखता है। वह देखता है कि आत्मा ही सत्य, सनातन और परिपूर्ण है। यह आत्मा अचिन्त्य है। यह विकाररहित अर्थात् न बदलनेवाला कहा जाता है। अतः अर्जुन! आत्मा को ऐसा जानकर तू शोक करने योग्य नहीं है। अब श्रीकृष्ण अर्जुन के विचारों में विरोधाभास दिखाते हैं, जो सामान्य तर्क है-

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

यदि तू इसे सदैव जन्मनेवाला और सदा मरनेवाला माने तब भी तुझे शोक नहीं करना चाहिए; क्योंकि-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

ऐसा मान लेने पर भी जन्मनेवाले की निश्चित मृत्यु और मरनेवाले का निश्चित जन्म सिद्ध होता है। इसलिये भी तू बिना उपायवाले इस विषय में शोक करने लायक नहीं है। जिसका कोई इलाज नहीं, उसके लिये शोक करना एक अन्य दुःख को आमन्त्रित करना है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले बिना शरीरवाले और मरने के बाद भी बिना शरीरवाले हैं। जन्म के पूर्व और पश्चात् भी दिखायी नहीं पड़ते। केवल जन्म-मृत्यु के बीच में ही शरीर धारण किये हुए दिखायी देते हैं। अतः इस परिवर्तन के लिये व्यर्थ की चिन्ता क्यों करते हो? इस आत्मा को देखता कौन है? इस पर कहते हैं-

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

पहले श्रीकृष्ण ने कहा था कि इस आत्मा को तत्त्वदर्शियों ने देखा है, अब तत्त्वदर्शन की दुर्लभता पर प्रकाश डालते हैं कि कोई विरला महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की तरह देखता है। सुनता नहीं, प्रत्यक्ष देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही आश्चर्य की तरह इसके तत्त्व को कहता है। जिसने देखा है, वही यथार्थ कह सकता है। दूसरा कोई विरला साधक इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है - सब सुनते भी नहीं; क्योंकि यह अधिकारी के लिए ही है। हे अर्जुन! कोई-कोई तो सुनकर भी इस आत्मा को नहीं जान पाते; क्योंकि साधन पार नहीं लगता। आप लाख ज्ञान की बातें सुनें, समझें - बाल की खाल निकालकर समझें, लालायित भी रहें; किन्तु मोह बड़ा प्रबल है, थोड़ी देर बाद ही आप अपनी सांसारिक व्यवस्थाओं में लिप्त मिलेंगे।

अन्त में श्रीकृष्ण निर्णय देते हैं-

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीर में सदैव अवध्य है, अकाट्य है। इसलिए सम्पूर्ण भूतप्राणियों के लिये तू शोक करने योग्य नहीं है।

'आत्मा ही सनातन है' - इस तथ्य का प्रतिपादन करके, इसका प्रभुता सहित वर्णन करके यह प्रश्न यहीं पूरा हो जाता है। अब प्रश्न खड़ा होता है कि इसकी प्राप्ति कैसे हो? सम्पूर्ण गीता में इसके लिये दो ही मार्ग हैं - पहला निष्काम कर्मयोग और दूसरा ज्ञानयोग। दोनों मार्गों में किया जानेवाला कर्म एक ही है। उस कर्म की अनिवार्यता पर बल देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ज्ञानयोग के विषय में कहते हैं-

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

अर्जुन! स्वधर्म देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है; क्योंकि धर्मसंयुक्त युद्ध से बढ़कर अन्य कोई परमकल्याणकारी मार्ग क्षत्रिय के लिए नहीं है। अभी तक तो 'आत्मा शाश्वत है', 'आत्मा सनातन है', 'वही एकमात्र धर्म है' कहा गया है। अब यह स्वधर्म कैसा? धर्म तो एकमात्र आत्मा ही है। वह तो अचल स्थिर है, तो धर्माचरण क्या? वस्तुतः इस आत्म-पथ में प्रवृत्त होने की क्षमता हर व्यक्ति की अलग-अलग होती है। स्वभाव से उत्पन्न इस क्षमता को स्वधर्म कहा गया है।

इसी एक सनातन आत्मिक पथ पर चलनेवाले साधकों को महापुरुष ने स्वभाव से, उनकी क्षमता के अनुसार चार श्रेणियों में बाँटा - शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण। साधना की प्रारंभिक अवस्था में प्रत्येक साधक शूद्र अर्थात् अल्पज्ञ होता है। घण्टों भजन में बैठने पर वह दस मिनट भी अपने पक्ष में नहीं पाता। वह प्रकृति के मायाजाल को काट नहीं पाता। इस अवस्था में महापुरुष की सेवा से उसके स्वभाव में सद्‌गुण आते हैं। वह वैश्य श्रेणी का साधक बन जाता है। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इसका वह शनैः-शनैः संग्रह और गोपालन अर्थात् इन्द्रियों की सुरक्षा करने में सक्षम हो जाता है। काम, क्रोध इत्यादि से इन्द्रियों की हिंसा होती है तथा विवेक, वैराग्य से इनकी सुरक्षा होती है; किन्तु प्रकृति को निर्बीज करने की क्षमता उसमें नहीं होती। क्रमशः उन्नति करते-करते साधक के अन्तःकरण में तीनों गुणों को काटने की क्षमता अर्थात् क्षत्रियत्व आ जाता है। इसी स्तर पर प्रकृति और उसके विकारों को नाश करने की क्षमता आ जाती है, इसलिये युद्ध यहीं से आरम्भ होता है। क्रमशः साधन करके साधक ब्राह्मणत्व की श्रेणी में बदल जाता है। इस समय मन का शमन, इन्द्रियों का दमन, धारावाही चिन्तन, सरलता, अनुभव, ज्ञान इत्यादि लक्षण साधक में स्वाभाविक प्रवाहित होते हैं। इन्हीं के अनुष्ठान से चलकर क्रमशः वह ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है, जहाँ वह ब्राह्मण भी नहीं रह जाता।

विदेह राजा जनक की सभा में महर्षि याज्ञवल्क्य ने चाक्रायण, उषस्ति, कहोल, आरुणि, उद्दालक और गार्गी के प्रश्नों का समाधान करते हुए

बताया कि आत्म-साक्षात्कार का पूर्णतया सम्पादन करनेवाला ही ब्राह्मण होता है। यह आत्मा ही लोक, परलोक और समस्त प्राणियों को भीतर से नियमित करता है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, तारागण, अन्तरिक्ष, आकाश एवं प्रत्येक क्षण इस आत्मा के ही प्रशासन में हैं। यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। आत्मा अक्षर है, इससे भिन्न सब नाशवान् हैं। जो कोई इसी लोक में इस अक्षर को न जानकर हवन करता है, तप करता है, हजारों वर्षों तक यज्ञ करता है, उसका यह सब कर्म नाशवान् है। जो कोई भी इस अक्षर को जाने बिना इस लोक से मरकर जाता है वह दयनीय है, कृपण है और जो इस अक्षर को जानकर इस लोक से मरकर जाता है वह ब्राह्मण है। (बृहदारण्यकोपनिषद, ३/४-५-७-८)

अर्जुन क्षत्रिय श्रेणी का साधक है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि क्षत्रिय श्रेणी के साधक के लिए युद्ध के अतिरिक्त कोई कल्याणकारक रास्ता है ही नहीं। प्रश्न उठता है कि क्षत्रिय है क्या? प्रायः लोग इसका आशय समाज में जन्मना उत्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातियों से लेते हैं। इन्हें ही चार वर्ण मान लिया जाता है। किन्तु नहीं, शास्त्रकार ने स्वयं बताया है कि क्षत्रिय क्या है, वर्ण क्या है? यहाँ उन्होंने केवल क्षत्रिय का नाम लिया और आगे अठारहवें अध्याय तक इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत किया कि वस्तुतः ये वर्ण हैं क्या? और कैसे इनमें परिवर्तन होता है?

श्रीकृष्ण ने कहा, **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' (गीता, ४/१३)**। चार वर्णों की सृष्टि मैंने की। तो क्या मनुष्यों को बाँटा? श्रीकृष्ण कहते हैं कि नहीं, **'गुणकर्म विभागशः।'**- गुणों के माध्यम से कर्म को चार भागों में बाँटा। अब यह देखना है कि वह कर्म क्या है, जिसे बाँटा गया? गुण परिवर्तनशील हैं। साधना की उचित प्रक्रिया द्वारा तामसी से राजसी और राजसी से सात्त्विक गुणों में प्रवेश मिलता जाता है। अन्ततः ब्राह्मण स्वभाव बन जाता है। उस समय ब्रह्म में प्रवेश दिला देनेवाली सारी योग्यताएँ उस साधक में रहती हैं। वर्ण-सम्बन्धी प्रश्न यहाँ से आरंभ होकर अठारहवें अध्याय में जाकर पूर्ण होता है।

श्रीकृष्ण की मान्यता है- **'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।'** **(गीता, १८/४७)** स्वभाव से उत्पन्न इस धर्म में प्रवृत्त होने की क्षमता जिस स्तर की हो, भले ही वह गुणरहित शूद्र श्रेणी की हो, तब भी परमकल्याण करती है; क्योंकि आप क्रमशः वहीं से उत्थान करते हैं। उससे ऊपर वालों की नकल करके साधक नष्ट हो जाता है। अर्जुन क्षत्रिय श्रेणी का साधक था, इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि - अर्जुन! अपने स्वभाव से उत्पन्न इस युद्ध में प्रवृत्त होने की अपनी क्षमता को देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है। इससे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कार्य क्षत्रिय के लिये नहीं है। इसी पर प्रकाश डालते हुए पुनः योगेश्वर कहते हैं-

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।।

पार्थिव शरीर को ही रथ बनाकर अचूक लक्ष्यवेधी अर्जुन! स्वतः प्राप्त, स्वर्ग के खुले हुए द्वाररूपी इस युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं। क्षत्रिय श्रेणी के साधक में तीनों गुणों को काट देने की क्षमता रहती है। उसके लिए स्वर्ग का द्वार खुला है; क्योंकि उसमें दैवी सम्पद् पूर्णतः अर्जित रहती है, स्वर में विचरने की उसमें क्षमता रहती है। यही खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं; क्योंकि उनमें ही इस संघर्ष की क्षमता है।

दुनिया में लड़ाइयाँ होती हैं। विश्व सिमटकर लड़ता है, प्रत्येक जाति लड़ती है; किन्तु शाश्वत विजय जीतनेवाले को भी नहीं मिलती। ये तो बदले हैं। जो जिसको जितना दबाता है, कालान्तर में उसे भी उतना ही दबना पड़ता है। यह कैसी विजय है, जिसमें इन्द्रियों को सुखानेवाला शोक बना ही रहता है, अन्त में शरीर भी नष्ट हो जाता है? वास्तविक संघर्ष तो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का है, जिसमें एक बार विजय हो जाने पर प्रकृति का सदा के लिए निरोध और परमपुरुष परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। यह ऐसी विजय है, जिसके पीछे हार नहीं है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मंकीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

और यदि तू इस 'धर्मयुक्त संग्राम' अर्थात् शाश्वत सनातन परमधर्म परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाला धर्मयुद्ध नहीं करेगा तो 'स्वधर्म' अर्थात् स्वभाव से उत्पन्न संघर्ष करने की क्षमता, क्रिया में प्रवृत्त होने की क्षमता को खोकर पाप अर्थात् आवागमन और अपकीर्ति को प्राप्त होगा। अपकीर्ति पर प्रकाश डालते हैं-

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

सबलोग बहुत काल तक तेरी अपकीर्ति का कथन करेंगे। आज भी पदच्युत होनेवाले महात्माओं में विश्वामित्र, पराशर, निमि, शृङ्गी इत्यादि की गणना होती है। बहुत से साधक अपने धर्म पर विचार करते हैं, सोचते हैं कि लोग हमें क्या कहेंगे? ऐसा भाव भी साधना में सहायक होता है। इससे साधना में लगे रहने की प्रेरणा मिलती है। कुछ दूरी तक यह भाव भी साथ देता है। माननीय पुरुषों के लिए अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर होती है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

जिन महारथियों की निगाह में तू बहुत माननीय होकर अब तुच्छता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से उपराम हुआ मानेंगे। महारथी कौन? इस पथ पर महान् परिश्रम से आगे बढ़नेवाले साधक महारथी हैं। इसी प्रकार इतने ही परिश्रम से अविद्या की ओर खींचनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोहादि भी महारथी हैं। जो तुझे बहुत सम्मान देते थे कि साधक प्रशंसनीय है, तुम उनकी निगाह से गिर जाओगे। इतना ही नहीं, बल्कि-

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

वैरी लोग तेरे पराक्रम की निन्दा करते हुए बहुत से न कहने योग्य वचनों को कहेंगे। एक दोष आता है, तो चारों ओर से निन्दा और बुराइयों की झड़ी लग जाती है। न कहने योग्य वचन भी कहे जाते हैं। इससे बड़ा दुःख क्या होगा? अतः-

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

इस युद्ध में मरोगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे, स्वर में विचरने की क्षमता रहेगी। श्वास के बाहर प्रकृति में विचरने की धाराएँ निरुद्ध हो जायेंगी। परमदेव परमात्मा में प्रवेश दिलानेवाली दैवी सम्पद् हृदय में पूर्णतः प्रवाहित रहेगी। अथवा इस संघर्ष में जीतने पर महामहिम स्थिति को प्राप्त करोगे। इसलिए अर्जुन! युद्ध के लिये निश्चय करके खड़ा हो।

प्रायः लोग इस श्लोक के अर्थ में समझते हैं कि इस युद्ध में मरोगे तो स्वर्ग जाओगे और जीतोगे तो पृथ्वी का भोग भोगोगे; किन्तु आपको स्मरण होगा, अर्जुन कह चुका है- ''भगवन्! पृथ्वी ही नहीं अपितु त्रैलोक्य के साम्राज्य और देवताओं के स्वामीपन अर्थात् इन्द्रपद प्राप्त होने पर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता, जो इन्द्रियों को सुखानेवाले मेरे शोक दूर कर सकें। यदि इतना ही मिलना है तो गोविन्द! मैं युद्ध कदापि नहीं करूँगा।'' यदि इतने पर भी श्रीकृष्ण कहते कि - अर्जुन! लड़ो। जीतोगे तो पृथ्वी पा जाओगे, हारोगे तो स्वर्ग के नागरिक बन जाओगे, तो श्रीकृष्ण देते ही क्या हैं? अर्जुन इससे आगे का सत्य, श्रेय (परमकल्याण) की कामनावाला शिष्य था, जिसे सद्गुरुदेव श्रीकृष्ण ने बताया कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के इस संघर्ष में यदि शरीर का समय पूरा हो जाता है और लक्ष्य तक नहीं पहुँच सके, तो स्वर्ग प्राप्त करोगे अर्थात् स्वर में ही विचरण करने की क्षमता प्राप्त कर लोगे, दैवी सम्पद् हृदय में ढल जायेगी और इस शरीर के रहते-रहते संघर्ष में सफल हो जाते हो तो **'महीम्'**- सबसे महान् ब्रह्म की महिमा का उपभोग करोगे, महामहिम की स्थिति प्राप्त कर लोगे। जीतोगे तो सर्वस्व; क्योंकि महामहिमत्व को पाओगे और हारोगे तो देवत्व - दोनों हाथों में लड्डू रहेंगे। लाभ में भी लाभ और हानि में भी लाभ ही है। पुनः इसी पर बल देते हैं-

सुखदुःखे समेकृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

इस प्रकार सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान समझकर तू युद्ध के लिये तैयार हो। युद्ध करने से तू पाप को प्राप्त नहीं होगा। अर्थात् सुख में सर्वस्व और दुःख में भी देवत्व है। लाभ में महीम् की स्थिति अर्थात् सर्वस्व और हानि में देवत्व है। जय में महामहिम स्थिति और पराजय में भी दैवी सम्पद् पर अधिकार है। इस प्रकार अपने लाभ-हानि को भली प्रकार स्वयं समझकर तू युद्ध के लिये तैयार हो। लड़ने में ही दोनों वस्तुएँ हैं। लड़ोगे तो पाप अर्थात् आवागमन को प्राप्त नहीं होओगे। अतः तू युद्ध के लिये तैयार हो।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञानयोग के विषय में कही गयी है। कौन-सी बुद्धि? यही कि युद्ध कर। ज्ञानयोग में इतना ही है कि अपनी हस्ती को देखकर, लाभ-हानि का भली प्रकार विचार करके कि जीतेंगे तो महामहिम स्थिति और हारेंगे तो देवत्व, जय में सर्वस्व और पराजय में भी देवत्व- दोनों तरह लाभ है। युद्ध नहीं करेंगे तो सभी हमें बुरा कहेंगे, भय से उपराम हुआ मानेंगे, अपकीर्ति होगी। इस प्रकार अपने अस्तित्व को सामने रखकर स्वयं विचार कर युद्ध में अग्रसर होना ही ज्ञानयोग है।

प्रायः लोगों में भ्रान्ति है कि ज्ञानमार्ग में कर्म (युद्ध) नहीं करना पड़ता। वे कहते हैं कि ज्ञानमार्ग में कर्म नहीं है। मैं तो 'शुद्ध हूँ', 'चैतन्य हूँ', 'अहं ब्रह्मास्मि।', 'गुण ही गुण में बरतते हैं।'- ऐसा मानकर हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाते हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार यह ज्ञानयोग नहीं है। ज्ञानयोग में भी वही 'कर्म' करना है, जो निष्काम कर्मयोग में किया जाता है। दोनों में केवल बुद्धि का, दृष्टिकोण का अन्तर है। ज्ञानमार्गी अपनी स्थिति समझकर, अपने पर निर्भर होकर कर्म करता है, जबकि निष्काम कर्मयोगी इष्ट के आश्रित होकर कर्म करता है। करना दोनों मार्गों में है और वह कर्म भी एक ही है, जिसे दोनों मार्गों में किया जाना है। केवल कर्म करने के दृष्टिकोण दो हैं।

अर्जुन! इसी बुद्धि को अब तू निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिससे युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन का अच्छी तरह नाश करेगा। यहाँ श्रीकृष्ण ने 'कर्म' का नाम पहली बार लिया, लेकिन यह नहीं बताया कि कर्म है क्या? अब कर्म न बताकर पहले कर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं-

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं होता। सीमित फलरूपी दोष नहीं है, इसलिये इस निष्काम कर्म का, इस कर्म से सम्पादित धर्म का थोड़ा भी साधन जन्म-मृत्युरूपी महान् भय से उद्धार कर देता है। आप इस कर्म को समझें और इस पर दो कदम चल भर दें (जो सद्गृहस्थ आश्रम में रहकर ही चला जा सकता है, साधक तो चलते ही हैं।) बीज भर डाल दें, तो अर्जुन! बीज का नाश नहीं होता। प्रकृति में कोई क्षमता नहीं, ऐसा कोई अस्त्र नहीं कि उस सत्य को मिटा दे। प्रकृति केवल आवरण डाल सकती है, कुछ देर कर सकती है; किन्तु साधन के आरम्भ को मिटा नहीं सकती।

आगे श्रीकृष्ण ने बताया कि सभी पापियों से भी बड़ा पापी ही क्यों न हो, ज्ञानरूपी नौका द्वारा निःसन्देह पार हो जायेगा। ठीक उसी बात को यहाँ कहते हैं कि - अर्जुन! निष्काम कर्मयोग का बीजारोपण भर कर दें, तो उस बीज का कभी नाश नहीं होता। विपरीत फलरूपी दोष भी इसमें नहीं होता कि आपको स्वर्ग, ऋद्धियों या सिद्धियों तक पहुँचा कर छोड़ दे। आप यह साधन भले छोड़ दें; किन्तु यह साधन आपका उद्धार करके ही छोड़ेगा। इस निष्काम कर्मयोग का थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्यु के महान् भय से उद्धार कर देता है। **'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' (गीता, ६/४५)** कर्म का यह बीजारोपण अनेक जन्म के पश्चात् वहीं खड़ा कर देगा, जहाँ परमधाम है, परमगति है। इसी क्रम में आगे कहते हैं-

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

अर्जुन! इस निष्काम कर्मयोग में क्रियात्मक बुद्धि एक ही है। क्रिया एक है और परिणाम एक ही है। आत्मिक सम्पत्ति ही स्थिर सम्पत्ति है। इस सम्पत्ति को प्रकृति के द्वन्द्व में शनैः-शनैः अर्जित करना व्यवसाय है। यह व्यवसाय अथवा निश्चयात्मक क्रिया भी एक ही है। तब तो जो लोग बहुत-सी क्रियाएँ बताते हैं, क्या वे भजन नहीं करते? श्रीकृष्ण कहते हैं - ''हाँ, वे भजन नहीं करते। उन पुरुषों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है, इसलिये अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं।''

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

पार्थ! वे '**कामात्मानः**'- कामनाओं से युक्त, '**वेदवादरताः**'- वेद के वाक्यों में अनुरक्त, '**स्वर्गपराः**'- स्वर्ग को ही परम लक्ष्य मानते हैं कि इससे आगे कुछ है ही नहीं - ऐसा कहनेवाले अविवेकीजन जन्म-मृत्युरूपी फल देनेवाली, भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत-सी क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं और दिखावटी शोभायुक्त वाणी में व्यक्त भी करते हैं। अर्थात् अविवेकियों की बुद्धि अनन्त भेदोंवाली होती है। वे फलवाले वाक्य में ही अनुरक्त रहते हैं, वेद के वाक्यों को ही प्रमाण मानते हैं, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी बुद्धि बहुत-सी भेदोंवाली है इसलिए अनन्त क्रियाओं की रचना कर लेते हैं। वे नाम तो परमतत्त्व परमात्मा का ही लेते हैं; किन्तु उसकी ओट में अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। तो क्या अनंत क्रियाएँ कर्म नहीं हैं? श्रीकृष्ण कहते हैं - नहीं, अनन्त क्रियाएँ कर्म नहीं हैं। तो वह एक निश्चित क्रिया है क्या? श्रीकृष्ण अभी यह नहीं बताते। अभी तो केवल इतना कहते हैं कि अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखाओंवाली होती है इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। वे केवल विस्तार ही नहीं करते अपितु आलंकारिक शैली में उसे व्यक्त भी करते हैं। उसका प्रभाव क्या होता है?-

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

उनकी वाणी की छाप जिन-जिन के चित्त पर पड़ जाती है, अर्जुन! उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है, न कि वे कुछ पाते हैं। उस वाणी द्वारा हरे हुए चित्तवालों के और भोग-ऐश्वर्य में आसक्ति वाले पुरुषों के अन्तःकरण में क्रियात्मक बुद्धि नहीं रह जाती, इष्ट में समाधिस्थ करनेवाली निश्चयात्मक क्रिया उनमें नहीं होती।

ऐसे अविवेकियों की वाणी सुनता कौन है? भोग और ऐश्वर्य में आसक्तिवाले ही सुनते हैं, अधिकारी नहीं सुनता। ऐसे पुरुषों में सम और आदितत्त्व में प्रवेश दिलानेवाली निश्चयात्मक क्रिया से संयुक्त बुद्धि नहीं होती।

प्रश्न उठता है कि **'वेदवादरताः'**- जो वेद के वचनों में अनुरक्त हैं, क्या वे भी भूल करते हैं? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

अर्जुन! **'त्रैगुण्यविषया वेदा'**- वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश करते हैं। इसके आगे का हाल वे नहीं जानते। इसलिये **'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।'**- अर्जुन! तू तीनों गुणों से ऊपर उठ अर्थात् वेदों के कार्यक्षेत्र से आगे बढ़। कैसे बढ़ा जाय? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं, **'निर्द्वन्द्वः'**- सुख-दुःख के द्वन्द्वों से रहित, नित्य सत्य वस्तु में स्थित और योगक्षेम को न चाहता हुआ आत्मपरायण हो। इस प्रकार ऊपर उठ। प्रश्न उठता है कि हम ही उठें या कोई वेदों से ऊपर उठा भी है? श्रीकृष्ण बताते हैं कि आगे जो भी उठता है, ब्रह्म को जानता है और जो ब्रह्म को जानता है, वह विप्र है।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय को प्राप्त होने पर मनुष्य का छोटे जलाशय से जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जाननेवाले

ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रहता है। तात्पर्य यह है कि जो वेदों से ऊपर उठता है, वह ब्रह्म को जानता है, वही ब्राह्मण है। अर्थात् तू वेदों से ऊपर उठ, ब्राह्मण बन।

अर्जुन क्षत्रिय था। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ब्राह्मण बन। ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि वर्ण स्वभाव की क्षमताओं के नाम हैं। यह कर्मप्रधान है, न कि जन्म से निर्धारित होनेवाली कोई रूढ़ि। जिसे गंगा की धारा प्राप्त है, उसे क्षुद्र जलाशय से क्या प्रयोजन? कोई उसमें शौच लेता है, तो कोई पशुओं को नहला देता है। इसके आगे कोई उपयोग नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म को साक्षात् जाननेवाले उस विप्र महापुरुष का, उस ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रह जाता है। प्रयोजन रहता अवश्य है, वेद रहते हैं; क्योंकि पीछेवालों के लिए उनका उपयोग है। वहीं से चर्चा आरम्भ होगी। इसके उपरान्त योगेश्वर श्रीकृष्ण कर्म करते समय बरती जानेवाली सावधानियों का प्रतिपादन करते हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

कर्म करने में ही तेरा अधिकार हो, फल में कभी नहीं। ऐसा समझ कि फल हैं ही नहीं। फल की वासनावाला भी मत हो और कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो।

अब तक योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उनतालीसवें श्लोक में पहली बार कर्म का नाम लिया; किन्तु यह नहीं बताया कि वह कर्म है क्या और उसे करें कैसे? उस कर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला कि-

(१) अर्जुन! इस कर्म द्वारा तू कर्मों के बन्धन से अच्छी प्रकार छूट जायेगा।

(२) अर्जुन! इसमें आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है। आरम्भ कर दें, तो प्रकृति के पास कोई उपाय नहीं कि उसे नष्ट कर दे।

(३) अर्जुन! इसमें सीमित फलरूपी दोष भी नहीं है कि स्वर्ग, ऋद्धियों-सिद्धियों में फँसाकर खड़ा कर दे।

(४) अर्जुन! इस कर्म का थोड़ा भी साधन जन्म-मरण के भय से उद्धार करानेवाला होता है।

किन्तु अभी तक उन्होंने यह नहीं बताया कि वह कर्म है क्या? किया कैसे जाय? इसी अध्याय के इकतालीसवें श्लोक में उन्होंने बताया-

(५) अर्जुन! इसमें निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है, क्रिया एक ही है। तो क्या बहुत-सी क्रियावाले भजन नहीं करते? श्रीकृष्ण कहते हैं- वे कर्म नहीं करते। इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि अविवेकियों की बुद्धि अनन्त शाखावाली होती है, इसलिए वे अनन्त क्रियाओं का विस्तार कर लेते हैं। वे दिखावटी शोभायुक्त वाणी में इन क्रियाओं को व्यक्त भी करते हैं। उनकी वाणी की छाप जिनके चित्त पर पड़ जाती है, उनकी भी बुद्धि नष्ट हो जाती है। अतः निश्चयात्मक क्रिया एक ही है; लेकिन यह नहीं बताया कि वह क्रिया कौन-सी है?

सैंतालीसवें श्लोक में उन्होंने कहा- अर्जुन! कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। फल की वासनावाला भी मत हो और कर्म करने में भी तेरी अश्रद्धा न हो अर्थात् निरन्तर करने के लिए उसी में लीन होकर करें; किन्तु यह नहीं बताया कि वह कर्म है क्या? प्रायः इस श्लोक का उद्धरण देकर लोग कहते हैं कि कुछ भी करो, केवल फल की कामना मत करो, हो गया निष्काम कर्मयोग; किन्तु अभी तक श्रीकृष्ण ने बताया ही नहीं कि कर्म है कौन-सा, जिसे करें? यहाँ पर केवल कर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला कि कर्म देता क्या है और कर्म करते समय बरती जानेवाली सावधानियाँ क्या हैं? उन पर प्रकाश डाला। प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना हुआ है, जिसे योगेश्वर आगे अध्याय तीन-चार में स्पष्ट करेंगे।

पुनः इसी पर बल देते हैं-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

धनंजय! आसक्ति और संगदोष को त्यागकर, सिद्धि और असिद्धि में समान भाव रखकर, योग में स्थित होकर कर्म कर। कौन-सा कर्म? निष्काम

कर्म कर। **'समत्वं योग उच्यते'**- यह समत्व भाव ही योग कहलाता है। विषमता जिसमें न हो, ऐसा भाव समत्व कहलाता है। ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ विषम बनाती हैं, आसक्ति हमें विषम बनाती है, फल की इच्छा विषमता पैदा करती है, इसीलिये फल की वासना न हो, फिर भी कर्म करने में अश्रद्धा न हो। देखी-सुनी सभी वस्तुओं में आसक्ति का त्याग करके, प्राप्ति और अप्राप्ति के विषय में न सोचकर केवल योग में स्थित रहते हुए कर्म कर। योग से चित्त चलायमान न हो।

योग एक पराकाष्ठा की स्थिति है और एक प्रारम्भ की स्थिति भी होती है। प्रारम्भ में भी हमारी दृष्टि लक्ष्य पर ही रहनी चाहिए। अतः योग पर दृष्टि रखते हुए कर्म का आचरण करना चाहिए। समत्व भाव अर्थात् सिद्धि और असिद्धि में समभाव ही योग कहलाता है। जिसको सिद्धि और असिद्धि विचलित नहीं कर पाती, विषमता जिसमें पैदा नहीं होती, ऐसा भाव होने के कारण यह समत्व योग कहलाता है। यह इष्ट से समत्व दिलाता है, इसलिए इसे समत्व योग कहते हैं। कामनाओं का सर्वथा त्याग है, इसलिए इसे निष्काम कर्मयोग कहते हैं। कर्म करना है, इसलिए इसे कर्मयोग कहते हैं। परमात्मा से मेल कराता है, इसलिये इसका नाम योग अर्थात् मेल है। इसमें बौद्धिक स्तर पर ध्यान रखना पड़ता है कि सिद्धि और असिद्धि में समभाव रहे, आसक्ति न हो, फल की वासना न आने पाये इसलिये यही निष्काम कर्मयोग बुद्धियोग भी कहा जाता है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

धनंजय! **'अवरं कर्म'**- निकृष्ट कर्म, वासनावाले कर्म बुद्धियोग से अत्यन्त दूर हैं। फल की कामनावाले कृपण हैं। वे आत्मा के साथ उदारता नहीं बरतते, अतः समत्व बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण कर। जैसी कामना है, वैसा मिल भी जाये, तो उसे भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ेगा। आवागमन बना है तो कल्याण कैसा? साधक को तो मोक्ष की भी वासना नहीं रखनी चाहिए; क्योंकि वासनाओं से मुक्त होना ही तो मोक्ष है। फल की

प्राप्ति का चिन्तन करने से साधक का समय व्यर्थ नष्ट हो जाता है और फल प्राप्त होने पर वह उसी फल में उलझ जाता है। उसकी साधना समाप्त हो जाती है। आगे वह भजन क्यों करे? वहाँ से वह भटक जाता है। इसलिये समत्व बुद्धि से योग का आचरण करें।

ज्ञानमार्ग को भी श्रीकृष्ण ने बुद्धियोग कहा था कि अर्जुन! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोग के विषय में कही गई और यहाँ निष्काम कर्मयोग को भी बुद्धियोग कहा गया। वस्तुतः दोनों में बुद्धि का, दृष्टिकोण का ही अन्तर है। उसमें लाभ-हानि का रिकार्ड रखकर उसे जाँच कर चलना पड़ता है। इसमें बौद्धिक स्तर पर समत्व बनाये रखना पड़ता है इसलिये इसे समत्व बुद्धियोग भी कहा जाता है। इसलिये धनंजय! तू समत्व बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फल की वासनावाले अत्यन्त कृपण हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

समत्व बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनों को ही इसी लोक में त्याग देता है, उनसे लिपायमान नहीं होता। इसलिये समत्व बुद्धियोग के लिये चेष्टा कर। **'योगः कर्मसु कौशलम्'**- समत्व बुद्धि के साथ कर्मों का आचरण-कौशल ही योग है।

संसार में कर्म करने के दो दृष्टिकोण प्रचलित हैं। लोग कर्म करते हैं तो उसका फल भी अवश्य चाहते हैं या फल न मिले तो कर्म करना ही नहीं चाहते; किन्तु योगेश्वर श्रीकृष्ण इन कर्मों को बन्धनकारी बताते हुए 'आराधना' को एकमात्र कर्म मानते हैं। इस अध्याय में उन्होंने कर्म का नाम मात्र लिया। अध्याय ३ के ९ वें श्लोक में उसकी परिभाषा दी और चौथे अध्याय में कर्म के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण ने सांसारिक परम्परा से हटकर कर्म करने की कला बताई कि कर्म तो करो, श्रद्धापूर्वक करो; किन्तु फल के अधिकार को स्वेच्छा से छोड़ दो। फल जायेगा कहाँ? यही कर्मों के करने का कौशल है। निष्काम साधक की समग्र शक्ति इस प्रकार कर्म में लगी रहती है। आराधना के लिये ही तो शरीर

है। फिर भी जिज्ञासा स्वाभाविक है कि क्या सदैव कर्म ही करते रहना है या इसका कुछ परिणाम भी निकलेगा? इसे देखें-

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

बुद्धियोग से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होनेवाले फल को त्यागकर जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूट जाते हैं। वे निर्दोष अमृतमय परमपद को प्राप्त होते हैं।

यहाँ तीन बुद्धियों का चित्रण है। (श्लोक ३९) सांख्य बुद्धि में दो फल हैं, स्वर्ग और श्रेय। (श्लोक ५१) कर्मयोग में प्रवृत्त बुद्धि का एक ही फल है जन्म-मृत्यु से मुक्ति, निर्मल अविनाशी पद की प्राप्ति। बस ये दो ही योगक्रिया हैं। इसके अतिरिक्त बुद्धि अविवेकजन्य है, अनन्त शाखाओं वाली है, जिसका फल कर्मभोग के लिए बारम्बार जन्म-मृत्यु है।

अर्जुन की दृष्टि त्रिलोकी के साम्राज्य तथा देवताओं के स्वामीपन तक ही सीमित थी। इतने तक के लिये भी वह युद्ध में प्रवृत्त नहीं हो रहा था। यहाँ श्रीकृष्ण उसे नवीन तथ्य उद्घाटित करते हैं कि आसक्तिरहित कर्म द्वारा अनामय पद प्राप्त होता है। निष्काम कर्मयोग परमपद को दिलाता है, जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है। इस कर्म में प्रवृत्ति कब होगी?-

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

जिस काल में तेरी (प्रत्येक साधक की) बुद्धि मोहरूपी दलदल को पूर्णतः पार कर लेगी, लेशमात्र भी मोह न रह जाए - न पुत्र में, न धन में, न प्रतिष्ठा में - इन सबसे लगाव टूट जायेगा, उस समय जो सुनने योग्य है, उसे तू सुन सकेगा और सुने हुए के अनुसार वैराग्य को प्राप्त हो सकेगा अर्थात् उसे आचरण में ढाल सकेगा। अभी तो जो सुनने लायक है, उसे न तो तू सुन पाया है और आचरण का तो प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। इसी योग्यता पर पुनः प्रकाश डालते हैं-

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

अनेक प्रकार के वेदवाक्यों को सुनकर विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्म-स्वरूप में समाधिस्थ होकर अचल, स्थिर ठहर जायेगी, तब तू समत्व योग को प्राप्त होगा। पूर्ण सम स्थिति को प्राप्त करेगा, जिसे 'अनामय परमपद' कहते हैं। यही योग की पराकाष्ठा है और यही अप्राप्य की प्राप्ति है। वेदों से तो शिक्षा ही मिलती है; किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं, '**श्रुतिविप्रतिपन्ना**'- श्रुतियों के अनेक सिद्धांतों को सुनने से बुद्धि विचलित हो जाती है। सिद्धान्त तो अनेकों सुने, लेकिन जो सुनने योग्य है, लोग उससे दूर ही रहते हैं।

यह विचलित बुद्धि जिस समय समाधि में स्थिर हो जायेगी, तब तू योग की पराकाष्ठा अमृत पद को प्राप्त करेगा। इस पर अर्जुन की उत्कण्ठा स्वाभाविक थी कि वे महापुरुष कैसे होते हैं जो अनामय परमपद में स्थित हैं, समाधि में जिनकी बुद्धि स्थिर है? उसने प्रश्न किया-

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

'**समाधीयते चित्तं यस्मिन् स आत्मा एव समाधिः**'- जिसमें चित्त का समाधान किया जाय, वह आत्मा ही समाधि है। अनादि तत्त्व में जो समत्व प्राप्त कर ले, उसे समाधिस्थ कहते हैं। अर्जुन ने पूछा - केशव! समाधिस्थ स्थिरबुद्धिवाले महापुरुष के क्या लक्षण हैं? स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है? वह कैसे बैठता है? वह कैसे चलता है? चार प्रश्न अर्जुन ने किये। इस पर भगवान श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए कहा-

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

पार्थ! जब मनुष्य मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है, तब वह आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ स्थिर बुद्धिवाला कहा जाता है। कामनाओं के त्याग पर ही आत्मा का दिग्दर्शन होता है। ऐसा आत्माराम, आत्मतृप्त महापुरुष ही स्थितप्रज्ञ है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

दैहिक, दैविक तथा भौतिक दुःखों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जिसकी स्पृहा दूर हो गई है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, मननशीलता की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। उसके अन्य लक्षण बताते हैं-

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ शुभ अथवा अशुभ को प्राप्त होकर न तो प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है; उसकी बुद्धि स्थिर है। शुभ वह है, जो परमात्म-स्वरूप में लगाता है। अशुभ वह है, जो प्रकृति की ओर ले जानेवाला होता है। किन्तु स्थितप्रज्ञ पुरुष अनुकूल परिस्थितियों से न प्रसन्न होता है और न प्रतिकूल परिस्थितियों से द्वेष करता है; क्योंकि प्राप्त होने योग्य वस्तु न उससे भिन्न है और न पतित करनेवाले विकार ही उसके लिये हैं अर्थात् अब साधन से उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं रहा। ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, ठीक वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है। खतरे को देखते ही कछुआ जिस प्रकार अपने सिर और पैर समेट लेता है, ठीक इसी प्रकार जो पुरुष विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को सब ओर से समेटकर हृदय-देश में निरोध कर लेता है, उस काल में उस पुरुष की बुद्धि स्थिर होती है; किन्तु यह तो एक दृष्टान्त मात्र है। खतरे का एहसास मिटते ही कछुआ तो अपने अंगों को पुनः फैला देता है, क्या इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ महापुरुष भी विषयों में रस लेने लगता है? इस पर कहते हैं-

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

इन्द्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करनेवाले पुरुषों के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि वे ग्रहण ही नहीं करते, किन्तु उनका राग नहीं निवृत्त होता, आसक्ति लगी रहती है। सम्पूर्ण इन्द्रियों को विषयों से समेटने वाले निष्कामकर्मी का राग भी **'परं दृष्ट्वा'**- परमतत्त्व परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाता है।

महापुरुष कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को विषयों में नहीं फैलाता। एक बार जब इन्द्रियाँ सिमट गईं तो संस्कार ही मिट जाते हैं, पुनः वे नहीं निकलते। निष्काम कर्मयोग के आचरण द्वारा परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन के साथ उस पुरुष का विषयों से राग भी निवृत्त हो जाता है। प्रायः चिन्तन-पथ में हठ करते हैं। हठ से इन्द्रियों को रोककर वे विषय से तो निवृत्त हो जाते हैं किन्तु मन में उनका चिन्तन, राग लगा रहता है। यह आसक्ति **'परं दृष्ट्वा'**- परमात्मा का साक्षात्कार करने के बाद ही निवृत्त होती है, इसके पूर्व नहीं।

पूज्य महाराज जी इस सम्बन्ध में अपनी एक घटना बताया करते थे। गृह-त्याग से पूर्व उन्हें तीन बार आकाशवाणियाँ हुई थीं। हमने पूछा - ''महाराज जी! आपको आकाशवाणी क्यों हुई? हम लोगों को तो नहीं हुई।'' तब इस पर महाराज जी ने कहा - **'हो! ई शंका मोहूं के भई रही।'** अर्थात् यह सन्देह मुझे भी हुआ था। तब अनुभव में आया कि मैं सात जन्म से लगातार साधु हूँ। चार जन्म तो केवल साधुओं-सा वेश बनाये, तिलक लगाये, कहीं विभूति पोते, कहीं कमण्डल लिये विचरण कर रहा हूँ। योग-क्रिया की जानकारी नहीं थी। लेकिन पिछले तीन जन्म से बढ़िया साधु हूँ, जैसा होना चाहिए। मुझमें योगक्रिया जागृत थी। पिछले जन्म में पार लग चला था, निवृत्ति हो चली थी; किन्तु दो इच्छाएँ रह गई थीं - एक स्त्री और दूसरी गाँजा। अन्तर्मन में इच्छाएँ थीं, किन्तु बाहर से हमने शरीर को दृढ़ रखा। मन में वासना लगी थी इसलिए जन्म लेना पड़ा। जन्म लेते ही भगवान ने थोड़े ही समय में सब दिखा-सुनाकर निवृत्ति दिला दी, दो-तीन

चटकना दिया और साधु बना दिया।

ठीक यही बात श्रीकृष्ण कहते हैं कि इन्द्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करनेवाले पुरुष के भी विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; किन्तु साधना द्वारा परमपुरुष परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने पर वह विषयों के राग से भी निवृत्त हो जाता है। अतः जब तक साक्षात्कार न हो, कर्म करना है।

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही।।

(रामचरितमानस, ५/४८/६)

इन्द्रियों को विषयों से समेटना कठिन है। इस पर प्रकाश डालते हैं-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

कौन्तेय! प्रयत्न करनेवाले मेधावी पुरुष की प्रमथनशील इन्द्रियाँ उसके मन को बलात् हर लेती हैं, विचलित कर देती हैं। इसलिये-

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को संयत करके योग से युक्त और समर्पण के साथ मेरे आश्रित हो; क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर होती है। यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण साधन के निषेधात्मक अवयवों के साथ उसके विधेयात्मक पहलू पर जोर देते हैं। केवल संयम और निषेध से इन्द्रियाँ वश में नहीं होतीं। समर्पण के साथ इष्ट-चिन्तन अनिवार्य है। इष्ट-चिन्तन के अभाव में विषय-चिन्तन होगा, जिसके कुपरिणाम श्रीकृष्ण के ही शब्दों में देखें-

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है। कामना-पूर्ति में व्यवधान आने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध किसे जन्म देता है?-

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।६३।।

क्रोध से विशेष मूढ़ता अर्थात् अविवेक उत्पन्न होता है। नित्य-अनित्य वस्तु का विचार नहीं रह जाता। अविवेक से स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है (जैसा अर्जुन को हुआ था - **'भ्रमतीव च मे मनः।'** (१/३०) गीता के समापन पर उसने कहा **'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा', (१८/७३)**। 'क्या करें, क्या न करें - इसका निर्णय नहीं हो पाता।) स्मृति भ्रमित होने से योग-परायण बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धिनाश होने से यह पुरुष अपने श्रेय-साधन से च्युत हो जाता है।

यहाँ श्रीकृष्ण ने बल दिया है कि विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिए। साधक को नाम, रूप, लीला और धाम में ही कहीं लगे रहना चाहिए। भजन में ढील देने पर मन विषयों में जायेगा। विषयों के चिन्तन से आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उस विषय की कामना साधक के अन्तर्मन में होने लगती है। कामना की पूर्ति में व्यवधान होने पर क्रोध, क्रोध से अविवेक, अविवेक से स्मृति-भ्रम और स्मृति-भ्रम से बुद्धि नष्ट हो जाती है। निष्काम कर्मयोग को बुद्धियोग कहा जाता है; क्योंकि बुद्धि-स्तर पर इसमें विचार रखना चाहिए कि कामनाएँ न आने पाएँ, फल है ही नहीं। कामना आने से यह बुद्धियोग नष्ट हो जाता है। **'साधन करिय विचारहीन मन शुद्ध होय नहीं तैसे' (विनयपत्रिका, पद संख्या ११५/३)** विचार आवश्यक है। विचारशून्य पुरुष श्रेय-साधन से नीचे गिर जाता है। साधन-क्रम टूट जाता है, सर्वथा नष्ट नहीं होता। भोग के पश्चात् साधन वहीं से पुनः आरम्भ होता है, जहाँ अवरुद्ध हुआ था।

यह तो विषयाभिमुख साधक की गति है। स्वाधीन अन्तःकरण वाला साधक किस गति को प्राप्त होता है? इस पर श्रीकृष्ण कहते हैं-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

आत्मा की विधि को प्राप्त प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष राग-द्वेष से रहित वश में की हुई अपनी इन्द्रियों द्वारा **'विषयान् चरन्'**- विषयों में विचरता हुआ भी **'प्रसादमधिगच्छति'**- अन्तःकरण की निर्मलता को प्राप्त होता है। वह

अपनी भावदृष्टि में रहता है। महापुरुष के लिए विधि-निषेध नहीं रह जाते। उसके लिए कहीं अशुभ नहीं रहता, जिससे वह बचाव करे तथा उसके लिए कोई शुभ शेष नहीं रह जाता, जिसकी वह कामना करे।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

भगवान के पूर्ण कृपाप्रसाद 'भगवत्ता' से संयुक्त होने पर उसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है, **'दुःखालयम् अशाश्वतम्'। (गीता, ८/१५)** संसार का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है। किन्तु जो योगयुक्त नहीं हैं, उनकी दशा पर प्रकाश डालते हैं-

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

योगसाधनरहित पुरुष के अन्तःकरण में निष्काम कर्मयुक्त बुद्धि नहीं होती। उस अयुक्त के अन्तःकरण में भाव भी नहीं होता। भावनारहित पुरुष को शान्ति कहाँ और अशान्त पुरुष को सुख कहाँ? योगक्रिया करने से कुछ दिखाई पड़ने पर ही भाव बनता है - **'जानें बिनु न होइ परतीती।' (मानस, ७/८८ख/७)** भावना बिना शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित पुरुष को सुख अर्थात् शाश्वत, सनातन की प्राप्ति नहीं होती।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

जल में नाव को जिस प्रकार वायु हरण करके गन्तव्य से दूर कर देता है, ठीक वैसे ही विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों में जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय उस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है। अतः योग का आचरण अनिवार्य है। क्रियात्मक आचरण पर श्रीकृष्ण पुनः बल देते हैं-

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

इससे हे महाबाहो! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सर्वथा वश में की हुई होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है। 'बाहु' कार्यक्षेत्र का प्रतीक है। भगवान 'महाबाहु' एवं 'आजानुबाहु' कहे जाते हैं। वे बिना हाथ-पैर के सर्वत्र कार्य करते हैं। उनमें जो प्रवेश पाता है या जो उसी भगवत्ता की ओर अग्रसर है वह भी महाबाहु है। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों को महाबाहु कहा गया है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के लिये वह परमात्मा रात्रि के तुल्य है; क्योंकि दिखाई नहीं देता, न विचार ही काम करता है इसलिये रात्रि सदृश है। उस रात्रि में, परमात्मा में संयमी पुरुष भली प्रकार देखता है, चलता है, जागता है; क्योंकि वहाँ उसकी पकड़ है। योगी इन्द्रियों के संयम द्वारा उसमें प्रवेश पा जाता है। जिन नाशवान् सांसारिक सुख-भोग के लिए सम्पूर्ण प्राणी रात-दिन परिश्रम करते हैं, योगी के लिये वही निशा है।

रमा विलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी।।
(रामचरितमानस, २/३२३/८)

जो योगी परमार्थ-पथ में निरन्तर सजग और भौतिक एषणाओं से सर्वथा निःस्पृह होता है, वही उस इष्ट में प्रवेश पाता है। वह रहता तो संसार में ही है; किन्तु संसार का उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। महापुरुष की इस रहनी का चित्रण देखें-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में नदियों के जल उसको चलायमान न करते हुए बड़े वेग से उसमें समा जाते हैं, ठीक वैसे ही परमात्मा में स्थित, स्थितप्रज्ञ पुरुष में सम्पूर्ण भोग विकार उत्पन्न किये बिना

समा जाते हैं। ऐसा पुरुष परमशान्ति को प्राप्त होता है, न कि भोगों को चाहनेवाला।

भयंकर वेग से बहने वाली सहस्त्रों नदियों के स्त्रोत फसल को नष्ट करते हुए, हत्याएँ करते हुए, नगरों को डुबोते हुए, हाहाकार मचाते हुए बड़े वेग से समुद्र में गिरते हैं; किन्तु समुद्र को न एक इंच ऊपर उठा पाते हैं और न गिरा ही पाते हैं, बल्कि उसी में समाहित हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ महापुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग उतने ही वेग से आते हैं, किन्तु समाहित हो जाते हैं। उन महापुरुषों में न शुभ संस्कार डाल पाते हैं, न अशुभ। योगी के कर्म 'अशुक्ल' और 'अकृष्ण' होते हैं। क्योंकि जिस चित्त पर संस्कार पड़ते हैं, उसका निरोध और विलीनीकरण हो गया। इसके साथ ही भगवत्ता की स्थिति आ गई। अब संस्कार पड़े भी तो कहाँ? इस एक ही श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन के कई प्रश्नों का समाधान कर दिया। उसकी जिज्ञासा थी कि स्थितप्रज्ञ महापुरुष के लक्षण क्या हैं? वह कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है? श्रीकृष्ण ने एक ही शब्द में उत्तर दिया कि वे समुद्रवत् होते हैं। उनके लिए विधि-निषेध नहीं होता कि ऐसे बैठो और ऐसे चलो। वे ही परमशान्ति को प्राप्त होते हैं; क्योंकि वे संयमी हैं। भोगों की कामनावाला शान्ति नहीं पाता। इसी पर पुनः बल देते हैं-

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर '**निर्ममः**'- मैं और मेरे के भाव तथा अहंकार और स्पृहा से रहित हुआ बरतता है, वह उस परमशान्ति को प्राप्त होता है, जिसके बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

पार्थ! उपर्युक्त स्थिति ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है। समुद्रवत् उन महापुरुषों में विषय नदियों की तरह समा जाते हैं। वे पूर्ण संयमी और प्रत्यक्षतः परमात्मदर्शी हैं। केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' पढ़ लेने या रट लेने से यह

स्थिति नहीं मिलती। साधन करके ही इस ब्रह्म की स्थिति को पाया जाता है। ऐसा महापुरुष ब्रह्मनिष्ठा में स्थित रहते हुए शरीर के अन्तकाल में भी ब्रह्मानन्द को ही प्राप्त होता है।

निष्कर्ष–

प्रायः कुछ लोग कहते हैं कि दूसरे अध्याय में गीता पूर्ण हो गई; किन्तु यदि केवल कर्म का नाम मात्र लेने से कर्म पूरा हो जाता हो, तब तो गीता का समापन माना जा सकता है। इस अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने यही बताया कि– अर्जुन! निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिसे जानकर तू संसार–बन्धन से छूट जायेगा। कर्म करने में तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। कर्म करने में तेरी अश्रद्धा भी न हो। निरन्तर करने के लिए तत्पर हो जा। इसके परिणाम में तू **'परं दृष्ट्वा'** (२/५९)– परमपुरुष का दर्शन कर स्थितप्रज्ञ बनेगा, परमशान्ति पायेगा; किन्तु यह नहीं बताया कि 'कर्म' है क्या?

यह 'सांख्ययोग' नामक अध्याय नहीं है। यह नाम शास्त्रकार की नहीं, अपितु टीकाकारों की देन है। वे अपनी बुद्धि के अनुसार ही ग्रहण करते हैं तो आश्चर्य क्या है?

इस अध्याय में कर्म की गरिमा, उसे करने में बरती जाने वाली सावधानी और स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के मन में कर्म के प्रति उत्कण्ठा जागृत की है, उसे कुछ प्रश्न दिये हैं। आत्मा शाश्वत है, सनातन है, उसे जानकर तत्त्वदर्शी बनो। इसकी प्राप्ति के दो साधन हैं – ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग।

अपनी शक्ति को समझकर, हानि–लाभ का स्वयं निर्णय लेकर कर्म में प्रवृत्त होना ज्ञानमार्ग है तथा इष्ट पर निर्भर होकर समर्पण के साथ उसी कर्म में प्रवृत्त होना निष्काम कर्ममार्ग या भक्तिमार्ग है। गोस्वामी तुलसीदास ने दोनों का चित्रण इस प्रकार किया है–

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।।
जनहि मोर बल निजबल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही।।

(रामचरितमानस, ३/४२/८-९)

मेरे दो प्रकार के भजनेवाले हैं - एक ज्ञानमार्गी, दूसरा भक्तिमार्गी। निष्काम कर्ममार्गी या भक्तिमार्गी शरणागत होकर मेरा आश्रय लेकर चलता है, ज्ञानयोगी अपनी शक्ति सामने रखकर, अपनी हानि-लाभ का विचार कर अपने भरोसे चलता है, जबकि दोनों के शत्रु एक ही हैं। ज्ञानमार्गी को काम, क्रोधादि शत्रुओं पर विजय पाना है और निष्काम कर्मयोगी को भी इन्हीं से युद्ध करना है। कामनाओं का त्याग दोनों करते हैं और दोनों मार्गों में किया जाने वाला कर्म भी एक ही है। ''इस कर्म के परिणाम में परमशान्ति को प्राप्त हो जाओगे।'' लेकिन यह नहीं बताया कि कर्म है क्या? अब आपके भी समक्ष 'कर्म' एक प्रश्न है। अर्जुन के मन में भी कर्म के प्रति जिज्ञासा हुई। तीसरे अध्याय के आरम्भ में ही उसने कर्मविषयक प्रश्न प्रस्तुत किया। अतः-

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे 'कर्मजिज्ञासा' नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् एवं ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र विषयक श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में 'कर्मजिज्ञासा' नामक दूसरा अध्याय पूर्ण हुआ।

इति श्रीमत्परमहंस परमानन्दस्य शिष्यस्वामीअड़गड़ानन्दकृते श्रीमद्भगवद्गीतायाः 'यथार्थगीता' भाष्ये 'कर्मजिज्ञासा' नाम द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

।।हरिः ॐ तत् सत्।।